डॉ० छगनलाल शास्त्री, एम० ए० (त्रय) पी-एच०डी०
पूर्व प्रोफेसर मद्रास युनिवर्सिटी चेन्नई तथा प्राकृत रिसर्च इन्स्टीच्यूट वैशाली

यशस्तिलकचम्पू में ध्यान का विश्लेषण

सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चम्पू के आठवें आश्वास में ध्यान का विश्लेषण किया है। सोमदेव का संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है, उनका यशस्तिलक चम्पू बाणभट्ट की कादम्बरी की शैली पर लिखा गया एक महाकाव्य है, जो गद्य पद्य मिश्रित है।[1] इसकी रचना उन्होंने ईसवी सन् ९५९ में की। इसमें पहले से पाँचवें आश्वास तक उज्जयिनी के राजा यशोधर की जन्म जन्मान्तर के उपाख्यानों से पूर्ण कथा है। छठे से आठवें आश्वास में उन्होंने आचार्य सुदत्त के मुंह से कथा के एक प्रमुख पात्र राजा मारिदत्त को संबांधित कर जैन धर्म के सिद्धांत एवं साधना-पक्ष का निरूपण किया है।

उपासकाध्ययन

इन तीनों आश्वासों का नाम उन्होंने उपासकाध्ययन रखा है। उपासक के लिए साधना के अन्यान्य अंगों की तरह उन्होंने ध्यान को भी आवश्यक माना है। आठवें आश्वास के अन्तर्गत उन्होंने उनचालीसवें कल्प में ध्यानविधि, ध्याता एवं ध्येय का स्वरूप, ध्यान की दुर्लभता, ध्यान का काल और पातंजल योग आदि द्वारा अभिमत ध्यान प्रभृति योगांगों का समीक्षण उत्तम धर्म ध्यानी के पावन चरित्र इत्यादि विषयों का विश्लेषणात्मक विवेचन किया है।

ध्यान विधि

आचार्य सोमदेव ध्यान की विधि का निरूपण करते हुए लिखते हैं :-

''जो साधक परम ज्योति का ध्यान करना चाहता है, उसका शाश्वत स्थान अधिगत करना चाहता है, उसे चाहिये कि वह सावधानी से इस ध्यान विधि का अभ्यास करे, जिसका वर्णन किया जा रहा है।

साधक तत्व चिन्तन के अमृत सागर में अपना मन दृढ़तापूर्वक मग्न कर, बाहरी विषयों की व्याप्ति में उसे जड़ बनाकर अर्थात् जिस प्रकार किसी जड़ या निर्जीव वस्तु पर भौतिक भोग्य विषय कोई प्रभाव नहीं कर पाते, अपने को वैसी स्थिति में ढालकर दो आसन खड्गासन या वज्रासन में स्थित हो।

ध्यान रूपी अमृत का आस्वाद लेते हुए साधक उच्छवास और निःश्वास को सूक्ष्म बना सब अंगों में प्राण वायु के हलन-चलन मूलक संचार का निरोध कर ग्रीवोत्कीर्ण उत्कीर्ण पाषाण की मूर्ति-सा बन ध्यान में स्थिर रहे।

जब ध्यानी साधक चक्षु, घ्राण, नेत्र, वाक् तथा स्पर्श इन पांच इन्द्रियों को आत्मोन्मुख बना लेता है, बाह्य विषयों से विरत हो जाता है, जब उसका चित्त आत्म-स्वरूप के चिन्तन में निमग्न हो जाता है, तब अन्तज्योंति आत्मज्योति उसमें प्रकाशित हो जाती है।''[2]

ध्यान की परिभाषा

ध्यान की परिभाषा करते हुए वे आगे लिखते हैं–''चित्त की एकाग्रता चित्त को एकमात्र ध्येय में व्याप्त करना ध्यान है। ध्यान का फल आन्तरिक उज्ज्वलता, निर्मलता एवं ऋद्धिमत्ता भोगने में अनुभूत करने में समर्थ आत्मा ध्याता है। आत्मा और आगम-ज्योति और श्रुत ध्येय है तथा देह-यातना, दैहिक संयम-इन्द्रिय समूह का नियन्त्रण ध्यान की विधि है ध्यान में विहित है, करणीय है।[3]

विघ्नों मे अविचलता :

श्रेयांसि बहुविघ्नानि श्रेयस्कर कार्यों मे तो अनेक विघ्न आते ही हैं। फिर साधना में तो विघ्न ही विघ्न हैं, क्योकि लोकमुखी प्रवाह से वह भिन्न है, आत्मजनीन है। आचार्य साधक को विघ्नों से न घबराने की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं

''ध्यान साधक तैरश्च पशु-पक्षिकृत आमर देवकृत मार्त्य मनुष्यकृत, नाभस, आकाश से उत्पन्न वज्रपात आदि, भौम-भूमि से उत्पन्न भूकम्प आदि तथा अंगज अपने शरीर के अंगों से उत्पन्न पीड़ा, रोग आदि विघ्नों को दृढ़ता से सहन करे तथा वह अनुकूलता एवं प्रतिकूलता को लांघ जाय अर्थात् उनमें कोई भेद न समझे राग और द्वेष के भाव से ऊँचा उठ जाय।।[4]

इसे और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं –

"विघ्नों के समय उन्हें सहने में असमर्थता दिखलाने से वे मिटते नहीं, और न दीनता दिखाने से मौत से ही बचा जा सकता है, इसलिए साधक उपसर्गों तथा विघ्नों के आने पर मन में जरा भी क्लेश न मानता हुआ, 'परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन करें।[५]

ध्यान हेतु समुचित स्थान :

ध्यान के लिए स्थान आदि का निर्देश करते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं–

"साधक आत्म-साक्षात्कार हेतु ध्यान के लिए ऐसे स्थान को स्वीकार करे, जहाँ उसकी इन्द्रियाँ व्यासङ्ग विशेष आसक्ति रूप चोर का विघ्न न पायें। अर्थात् ध्यान के लिए ऐसे स्थान का चुनाव किया जाना चाहिये, जहाँ ऐसे व्यक्ति और ऐसे पदार्थ न हों, जो मन में आसङ्ग आसक्ति, मोह उत्पन्न करें।"[६]

साधना के लिए शरीर की उपयोगिता मानते हुए वे लिखते है :

"यद्यपि इस शरीर के जन्म का कोई महत्व नहीं है, पर यह तप, साधना आदि के द्वारा संसार समुद्र को पार करने के लिए तुम्बिका की तरह सहायक है, इसलिए साधना में इसकी उपयोगिता मानते हुए इसकी रक्षा करनी चाहिये।"[७]

आचार्य केवल यौगिक विधि विधान की बाह्य प्रक्रिया मात्र को महत्व नहीं देते। वे लिखते हैं :–

"धैर्यहीन या कायर पुरुष के लिए जैसे कवच धारण करना वृथा है, धान्य रहित खेत की बाड़ करना निष्प्रयोज्य है, उसी प्रकार ध्यान शून्य ध्यान में जरा भी प्रवृत्त न होने वाले पुरुष के लिए तत्संबंधी विधि विधान व्यर्थ है।"[८]

सबीज निर्बीज ध्यान :

सबीज और निर्बीज ध्यान के विवेचन के सन्दर्भ में वे लिखते हैं :

"जैसे दीपक वायु रहित स्थान मे निश्चलता पूर्वक प्रकाशमान रहता है, वैसे ही साधक का मन जब बाह्य और आभ्यन्तरिक अज्ञान रूपी वायु से अचंचल रहता हुआ तत्वों के आलोकन-मनन में उल्लसित रहता है, तब उसका ध्यान सबीज (पृथकत्व वितर्क सविचार) ध्यान कहा जाता है।

सब साधक के चित्तरूपी निर्झर की प्रवृत्तियाँ – व्यापार निर्विचार – संक्रमण रहित (द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य आदि के परिशीलन रूप संक्रमण से शून्य) होती है, आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में ही स्फुरित-आनन्दित रहती है, उसका वह ध्यान निर्बीज (एकत्व वितर्क अविचार) कहा जाता है।

चित्त अनन्त सामर्थ्यशील है, पारद के समान चंचल है। जैसे पारद अग्नि में मूर्च्छित, मारित एवं शुद्ध होकर सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार चित्त अध्यात्म तेज या अध्यात्म ज्ञान में प्रज्वलित होकर स्थिर एवं शुद्ध हो जाता है। जैसे उस सिद्ध किये हुए पारद से रसायन के क्षेत्र में क्या साधित नहीं होता अर्थात् उसमें अद्भुत वैशिष्ट्य आ जाता है, उसी प्रकार जिस योगी का ज्ञान सिद्ध और स्थिर हो गया, उसके लिए तीनों जगत् में क्या हुआ अर्थात् सब कुछ सध गया।

यदि यह मन रूपी हंस सर्वथा निर्मनस्क मनोव्यापार रहित हो जाय, चंचलता शून्य बन जाय, आत्म-स्वरूप में सर्वथा स्थिर हो जाय, तो वह सर्वदर्शी बोधरूपी हंस में परिवर्तित हो जाता है। सकल जगत रूपी मानसरोवर उसका अधिष्ठान बन जाता है।

साधक मानसिक दृष्टि से आत्मा आदि ध्येय वस्तु में, चैतसिक एकाग्रता साधने के रूप में क्रियाशील रहता है, हेय उपादेय आदि भावों को यथावत् जान लेता है और किसी भी तरह विभ्रान्त नहीं होता– तत्व एवं अतत्व में समान बुद्धि नहीं लाता।"[९]

ध्यान का महात्म्य :

आचार्य ध्यान का महात्म्य वर्णित करते हुए लिखते हैं –

"यद्यपि भूमि में रत्न उत्पन्न होते हैं, किन्तु सर्वत्र नहीं होते, उसी प्रकार ध्यान यद्यपि आत्मा में उद्भूत होता है, पर सभी आत्माओं में उत्पन्न नहीं होता।

मुनिवृन्द ध्यान (शुक्ल ध्यान) का उत्कृष्टसमय अन्तमुर्हूत बतलाते हैं, निश्चय ही इससे अधिक मन का स्थिर रहना दुर्धर है, जिस प्रकार वज्र क्षणभर में विशाल पर्वत को छिन्न-भिन्न कर डालता है, उसी प्रकार ध्यान आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले कर्म समूह को विदीर्ण कर डालता है।

समुद्र के पानी को यदि कोई सैंकड़ों कल्पों युगान्तरों तक भी चुल्लुओं से उलीचता जाय तो भी समुद्र खाली नहीं होता, परन्तु प्रलयकाल का प्रचण्ड वायु उसे अनेक बार अविलम्ब खाली करने की क्षमता लिए रहता है, उसी प्रकार आत्मा में मुहूर्त भर के लिए अद्भुत धर्मध्यान घातिकर्म समूह को अविलम्ब ध्वस्त कर डालता है। जैसे रूप में, मरुत-प्राणवायु (परकाय प्रवेश आदि) में, बाह्य वस्तुओं में मन को स्थिर करने से व्यक्ति अपना अभीप्सित पा लेता है, वैसे ही आत्मा द्वारा परमात्मा में चित्त को स्थिर करने से परमात्मपद प्राप्त हो जाता है।"[१०]

योग के सहायक हेतु

वे योग के सहायक हेतुओं का निम्नांकित रूप में वर्णन करते हैं -

“वैराग्य-आगत, अनागत, ऐन्द्रियिक भोगों में तृष्णा का अभाव, ज्ञान संपदा–बन्ध से छूटने एवं मोक्ष प्राप्त करने के उपाय, साधना-क्रम आदि का ज्ञान, असंग-आत्म-व्यतिरिक्त अनात्म-तत्व बाह्य पदार्थों में आसक्ति का अभाव, चित्त की स्थिरता तथा भूख प्यास आदि दैहिक, शोक, चिन्ता आदि मासिक दुःखों एवं अहंकार विजय– ये योग साधना में–ध्यान के सधने में कारण हैं।”[११]

बाधक हेतु

योग के बाधक कारणों का उन्होंने इस प्रकार निरूपण किया है –

“आधि-मासिक पीड़ा, कुत्सित मनोवृत्ति, व्याधि–शारीरिक रुग्णता विपर्यास-अयथार्थ में यथार्थ का आग्रह, प्रमाद– तत्व ज्ञान की प्राप्ति एवं सदनुष्ठान में अनुत्साह आलस्य–प्राप्त तत्त्व या ज्ञान तथ्य का अनुष्ठान करने में शिथिलता, विभ्रम, भ्रान्ति तत्व, अतत्व में समान बुद्धि अलाभ आत्म-अनात्ममूलक सद्बोध मन न होने से अभ्यास का फल प्राप्त न होना, संगिता तत्व ज्ञान होने के बावजूद भौतिक सुख के साधनों में प्रसन्नता दुःख के साधनों में मन का स्थिर न हो पाना, अशान्त रहना ये योग में अन्तराय या विघ्न करने वाले हेतु हैं।[१२]

अन्तरायों से अनाहत, अव्याहत योगी को कर्तव्य निर्देश करते हुए आचार्य लिखते हैं :

“चाहे कोई योगी के शरीर में कांटे चुभोए, कोई उसकी देह पर चन्दन का लेप करे, दोनों स्थितियों में योगी रुष्ट और तुष्ट न होता हुआ पाषाण की तरह स्थिर भाव से ध्यान में लीन रहे।”[१३]

इतर यौगिक उपक्रमों का निरसन

आचार्य सोमदेव ध्यान का उक्त रूप में विश्लेषण करने के बाद अन्य यौगिक परम्पराओं का निरसन करते हुए लिखते हैं:

“ज्योति–ओंकार की आकृति का ध्यान, विधिपूर्वक ओंकार का जप, बिन्दु – अंगुलियों का स्वीकृत योग विधि के अनुरूप विभिन्न अंगों में, अंगुष्ठ का कानों में, तर्जनी का नेत्र-प्रान्त में, मध्यमा का नासापुट में अनामिका का ऊपरी ओष्ठ में प्रान्त भाग में तथा कनिष्ठिका का नीचे के ओष्ठ प्रदेश में, स्थापन कर, अन्तर्दृष्टि से अवलोकन द्वारा पीत, श्वेत, अरुण श्याम आदि विविध वर्णों के बिन्दु का दर्शन[१४] कला अर्द्धचन्द्राकृति पर मन का निरोध, नाद– अनाहत नाद आदि की अनुभूति कुंडली-कुंडलिनी का जागरण वायु-संचार, कुंभक पूरक, रेचक द्वारा प्राणायाम का अभ्यास, मुद्रा–हाथ व पैर तथा अन्याय अंगों का स्वीकृत योग-साधना के अनुरूप विभिन्न स्थितियों में अवस्थापन, मंडल–त्रिकोण, चतुष्कोण एवं वृत्ताकार आदि मंडल को उद्दिष्ट कर त्राटक-मूलक ध्यान निर्बीज कारण।

मरणकाल में वासना क्षय हेतु क्रिया विशेष, नाभि, नेत्र, ललाट, ब्रह्म, ग्रन्थि, आंत्रसमूह, तालू, आग्नेय तत्वमयी नासिका, रवि–दाहिनी, नाड़ी, चन्द्र–बाईं नाड़ी, लूता तन्तु –मकड़ी का जाला, ज्ञाननेन्द्रिय तथा हृदयांकुर के आधार पर प्राणायाम विधि से विशेष प्रकार का अभ्यास, अन्तकाल में निर्बीजीकरण द्वारा मृत्य विजय एवं मोक्ष प्राप्ति का उपक्रम आश्चर्य है, योग के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ जनों के ये उपक्रम अपने तथा औरों के लिए वंचना के ही हेतु हैं।

यदि इन आचरणों–उपायों से कर्मों का क्षय हो जाय, तो इसके लिए तप, जप, आप्त-पूजा, दान एवं अध्ययन आदि की फिर आवश्यकता ही क्या रहे, फिर वे व्यर्थ ही हों।”[१५]

वे आगे लिखते हैं–

“बड़ा आश्चर्य है, जो अविचारशीलता के कारण रम्य प्रतीत होने वाले, क्षणभर के लिए देह की वेदना शान्त करने वाले ऐन्द्रियिक योगों के वशीभूत है, वह भी योगी कहा जाता है।

इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा जिसके मन को जर्जर बनाती रहती है– सताती रहती है, वह विषयेप्सा वासना के निरोध से उत्पन्न होने वाले यौगिक तेज की कैसे इच्छा कर सकता है?

आत्मज्ञ कहा जाने वाला तथाकथित योगी, चिरकाल तक शारीरिक क्लेशमूलक योगकर्म प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा यदि संचित कर्म क्षीण करने हेतु उद्यत रहता है तो उसे रोगी जैसा समझना चाहिये अर्थात् रोगी भी तो लंघन आदि द्वारा वात, पित्त, कफ की विषमता में उत्पन्न रोगों को नष्ट करने का प्रयत्न करता ही है।”[१६]

योग-साधना के साथ वांछित जीवन-वृत्ति

साधना के साथ अपेक्षित जीवन-वृत्ति पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं :

“शुद्ध ध्यान में जिसकी बुद्धि संलग्न होती है, उसे लाभ में, हानि में, वन में, घर में, मित्र में, शत्रु में, प्रिय में, अप्रिय में तथा सुख एवं दुःख में एक सरीखा होना चाहिये।

उसे चाहिये कि वह सदा परब्रह्म परमात्मा की ओर दृष्टि रक्खे, श्रुत का अनुशीलन करे, धृति, मैत्री तथा दया का परिपालन करे।

सत्य-भाषण करे, वाणी पर नियंत्रण रक्खे।”[१७]

आचार्य सोमदेव ने अपने इस ग्रन्थ में ध्यान का जो विवेचन

किया है, वह जैन-परंपरा में चले आए एतत्संबंधी विचार-क्रम के अनुरूप है। ध्यान के सहयोगी हेतु, बाधक हेतु, साधक का आचार व्यवहार, वृत्ति संयोजना आदि पर उन्होंने सुन्दर प्रकाश डाला है, जो उनकी लेखनी का कौशल है।

आचार्य सोमदेव का वैशिष्ट्य

आचार्य सोमदेव निश्चय ही एक बहुत बड़े शब्द-शिल्पी थे। अपनी कृति 'यशस्तिलकचम्पू' में उन्होंने जो सरस, सुन्दर, लालित्यपूर्ण संस्कृत में अपना वर्ण्य विषय प्रस्तुत किया है, वह निःसन्देह प्रशस्य है। उन्होंने शब्द संयोजना, भाव-सन्निवेशना एवं अभिव्यंजना का बहुत ही सुन्दर संगम अपनी इस रचना में चरितार्थ किया है।

आचार्य सोमदेव ने अपने महाकाव्य के काव्यात्मक, साहित्यिक संदर्भों में प्रतिभा नैपुण्य द्वारा बहुत ही सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। योग जैसे आध्यात्मिक साधनामूलक तात्विक विषय पर भी उनकी लेखनी का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने ध्यान से संबद्ध उन सभी पक्षों का नपे तुले शब्दों में, मनोज्ञ एवं आकर्षक शैली में जो विवेचन किया है, उसमें पाठक को स्वात्मानुभव तथा साहित्यिक रसास्वादन दोनों ही उपात्त होते हैं।

भारत के संस्कृत के महान लेखकों में यह अद्‌भुत सामर्थ्य रहा है कि उन्होंने कला, दर्शन और विज्ञान जैसे भिन्न-भिन्न विधाओं से संयुक्त विषयों का जो तलस्पर्शी विवेचन किया है, वह उनकी सर्वग्राहिणी प्रज्ञा तथा अभिव्यक्ति प्रवणता का द्योतक है, जिससे सामान्य जनों द्वारा नीरस कहे जाने वाले विषय भी सरस बन जाते हैं।

योग का क्षेत्र, जिसका ध्यान मुख्य अंग है, बड़ा ही व्यापक है। उसका प्रारम्भ योग के प्रथम अंग पाँच यमों की आराधना से होता है। योग साधना में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि उसके जीवन में अहिंसा व्यापे। उसी का मतिफलन करुणा, दया और अनुकम्पा आदि में प्रकट होता है, जिनसे सम्यकत्व सुदृढ़ और समलंकृत बनाता है।

उसी प्रकार योगाभ्यास में आने वाले के मन, वाणी तथा व्यवहार में सत्य की प्रतिष्ठा हो, अर्थ लुब्धता उसके मन में जरा भी न रहे, पर द्रव्य को वह मिट्टी के ढेले के समान समझे, इन्द्रिय भोगों मे जरा भी गुमराह न बने, तृष्णा, लालसा तथा परिग्रह के मायाजाल से विमुक्त रहे, ऐसा किए बिना जो लोग कष्टकर, दुरुह मात्र, आसन एवं प्राणायाम आदि साधने में जुट जाते हैं, वे बाह्य प्रदर्शन में तो यत्किंचित चमत्कृति उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु उनसे अध्यात्म-योग जरा भी नहीं सधता।

हमारे देश में एक ऐसा समय रहा है, जब यम, नियम आदि की ओर विशेष ध्यान न देते हुए बाह्य चमत्कार एवं प्रदर्शन का भाव तथाकथित योगाभ्यासियों में बद्धमूल हुआ। 'देह दुःखं महाफलम्' के सिद्धान्त ने उनके जीवन में मुख्यता ले ली। यों हठयोग ही उनका साध्य बन गया। वे यह भूल गए कि हठयोग तो राजयोग – अध्यात्मयोग का केवल सहायक का साधन मात्र है। इसी तरह ध्यान योग के नाम से कतिपय ऐसे तान्त्रिक उपक्रम भी उद्‌भूत और प्रसृत हुए, जिनमें ऐहिक अभिसिद्धियों के अतिरिक्त अध्यात्मकोत्कर्ष के रूप में जरा भी फलवत्ता नहीं थी। आचार्य सोमदेव ने बड़े ही कड़े शब्दों में उनका खण्डन करते हुए योग साधकों को तद्‌विमुख होने को प्रेरित किया है।

यमों तथा नियमों के जीवन में सिद्ध हो जाने पर साधक में पवित्रता, निर्मलता और सात्विकता का संचार होता है। वह आत्मोन्मुख रहता हुआ, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार आदि का जो भी अभ्यास रहता है। तदर्थ दैहिक स्वस्थता या नीरोगता की जो अपेक्षा है, वह इन द्वारा प्राप्त होती जाए, ताकि योग की आगे की भूमिका में बाधा न आए।

आचार्य सोमदेव चाहते थे कि योगी केवल कहने भर को योगी न रह जाए, उसके व्यक्तित्व और आभामण्डल से यौगिकता– योग-साधना झलकनी चाहिये। यह तभी होता है, जहाँ आर्त्त तथा रौद्र ध्यान का परिवर्जन कर साधक शुक्ल ध्यान का लक्ष्य लिए धर्म ध्यान में संप्रवृत रहता हो।

आचार्य सोमदेव की योग मार्ग के नाम से ध्यान पर एक स्वतन्त्र कृत्ति उपलब्ध है। यह कलेवर में लघु होते हुए भी ध्यान विषयक विवेचन की प्रौढ काव्यात्मक शैली में रचित विलक्षण पुस्तक है, जिसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति एवं अर्थान्तरन्यास आदि विविध अलंकारों के माध्यम से ध्यान का बड़ा ही विशद, मनोज्ञ तथा अन्तः स्पर्शी विश्लेषण हुआ है। शाब्दिक सुन्दरता के साथ-२ सग्रधरा जैसे लम्बे छन्द में यह रचित है।

इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य सोमदेव ध्यान योग में विशेष अभिरुचिशील थे। यही कारण है कि उन्होंने यशस्तिलकचम्पू में प्रसंगोपात रूप में ध्यान का वर्णन किया है। इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि उनकी यह मानसिकता थी कि ध्यान के इर्द-गिर्द सहायक साधनों के नाम से जुड़े हुए ये उपक्रम जो वास्तव में प्रत्यवाय–विघ्न रूप हैं, अपगत हो जाएं।

आचार्य सोमदेव द्वारा किया गया यह वर्णन ध्यान के क्षेत्र में आत्मोत्कर्ष को लक्षित कर अपेक्षित वैराग्य और अभ्यास को विशेष रूप से बल देने वाला है, क्योंकि इन्हीं से मनोजय, सिद्ध होता है। मन के विजित होने पर ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[१८] के अनुसार योग साधना में साधक सफलता प्राप्त करता जाता है।

टिप्पणी

१. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते –साहित्य दर्पण ६.३३६

२. आदिध्यासुः परं ज्योतिरीप्सुस्तद्धाम शाश्वतम् ।
इमं ध्यानविधिं यत्नादभ्यस्तु समाहितः।।
तत्वचिन्तामृतामोम्भो द्यौ दृढ़मग्नतया मनः।
बहिर्व्याप्तौ जड़ं कृत्वा द्वयमासनमाचरेत्।।
सूक्ष्म प्राणयमायामः सन्न सर्वाङ्गसंचरः।
ग्रोवोत्कीर्ण इवासीत ध्यानानन्द सुधां लिहन।।
यदेन्द्रि याणि पंञ्चापि स्वात्मस्थानि समासते।
तदा ज्योतिः स्फुरत्यन्तश्चित्ते चित्तं निमज्जति।।
यशस्तिलकचम्पु ८.१५५.५८

३. चित्तस्यैकाग्रता ध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः।
ध्येयमात्मागमज्योति स्तद्विधिर्देहयातना।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१५९

४. तैरश्चमामरं मार्त्य नाभसं भौममङ्गजम्।
सहेत समधीः सर्वभन्तरायं, द्वयातिगः।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१६०

५. नाक्षमित्वमविध्नाय न क्लीवत्वममृत्यवे।
तस्मादक्लिश्यमानत्मा परं ब्रह्मैव चिन्तयेत।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१६१

६. यत्रायमिन्द्रियग्रामो वयासङ्गस्तेन विप्लवम्।
नाश्नुवीत तमद्देशं भजेताध्यात्म सिद्धये।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१६२

७. फल्गुजन्मापययं देहो यदलाबुफलायते।
संसार सागरोत्तारे रक्ष्यस्तस्मात्प्रयत्नतः।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१६३

८. नरेऽधीरे वृथा वर्मक्षेत्रेऽशस्त्ये वृत्तिर्वृथा,
यथा तथा वृथा सर्वो ध्यान शून्यस्य तद्विधि।
यशस्तिलक चम्पू ८.१६४

९. बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्दं दीपवन्मनः।
यत्तत्वालोकनोल्लासि तत्स्याद्धयानं सबीजकम्।।
निर्विचारावतारासु चेतः स्रोतः प्रवृत्तिषु।
आत्मन्येव स्फुरन्नात्मा भवेद्ध्यानम बीजकम्।।
चित्तेऽनन्त प्रभावेऽस्मिन प्रकृत्या रसवच्चले।
तत्तेजसि स्थिरे सिद्धे न किं सिद्धं जगत्त्रये।।
निर्मनस्के मनोहंसे पुंहंसे सर्वतः स्थिरे।
बोधहंसोऽखिलालोक्यसरोहंसः प्रजायते।।
यद्यप्यस्मिन्मनः क्षेत्रे क्रियां तां तां समादधत्।
कंचिद्वेदयते भावं तथाप्यत्र न विभ्रमेत।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१६५-६९

१०. भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भवः।
तथात्मजमित ध्यानं सर्वत्राङ्गिनि नोद्भवेत्।।
तस्य कालं वदन्त्यन्तर्मुहूर्तं मुनयः परम्।
अपरिस्पन्दमानं हि तत्परं दुर्धरं मनः।
तत्कालमपि तद्धयानं स्फुरदेकाग्रमात्मनि।
उच्चैः कर्मोच्चयं भिन्द्याद्वज्रं शैलमिव क्षणात्।।
कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यरचुलु कैर्नोच्चुलुपितुम्।
कल्पान्तभूः पुनर्वातस्तं मुहुः शोषमानयेत्।।
रूपे मरुति चित्तेऽपि तथान्यत्र यथा विशन्।
लभेत कामितं तद्वदात्मना परमात्मनि।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१७२-१७६

११. वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसङ्गः स्थिरचित्तता।
ऊर्मिस्मय सहत्वं च पञ्च योगस्य हेतवः।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१७७

१२. आधि व्याधि विपर्यास प्रमादालस्यविभ्रमाः।
अलाभः सङ्गितास्थैर्यमेते तस्यान्तरायकाः।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१७८

१३. यः कष्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः।
रोषतोषाविषिक्तात्मा तयोरासीत लोष्टवत्।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१७९

१४. पीत पृथ्वी-तत्व का, श्वेत जल-तत्व का, अरूण तेजस् तत्व का श्याम वायु-तत्व का पीतत्वादि रहित परिवेश मात्र आकाश, तत्व का ज्ञापक है।

१५. ज्योतिर्बिन्दुः कला नादः कुण्डली वायुसंचरः।
मुद्रामण्डलचोद्यानि निजीकरणादिकम् ।।
नाभौ नेत्रे ललाटे च ब्रह्मग्रन्थौ च तालुनि।
अग्निमध्ये खौ चन्द्रे लूतातन्तौ हृदङ्कुरे।।
मृत्युंजय यदन्तेषु तत्त्वत्त्वं किल मुक्तये।
अहो मूढ़धियामेष नयः स्वपरवंचनः।।
कर्माण्यपि यदीमानि साध्यान्येवं विधैर्नयः।
अलं तपोजपाच्तोष्टिदानाध्ययन कर्मभिः।।
यशस्तिलक चम्पू ८.१८०-८३

१६. योऽविचारितरम्येषु क्षणं देहार्तिहारिषु।
इन्द्रियार्थेषु वश्यात्मा सोऽपि योगी किलोच्यते।।
यस्येन्द्रियार्थतृष्णाऽपि जर्जरीकुरुते मनः।
तन्निरोधभुवो धाम्नः स ईप्सति कथं नरः।।
आत्मज्ञः संचितं दोषं यातनायोगकर्मभिः।
कालेन क्षपपन्नपि योगी रोगीव कल्पताम्।।
यशस्तिलकचम्पू ८.१८४-८६

१८. पातंजल योग सूत्र १,२